Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 SHISRRJ | Volume 4 | Issue 2 | ISSN : 2581- 6306

संस्कृत कविता की दूसरी परम्परा और अवध की हिन्दी चेतना का मेल

डॉ. अनुराग मिश्र'

एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी–विभाग,
का.सु.साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या,
उत्तर प्रदेश,भारत।

Article Info
Volume 4, Issue 2
Page Number : 163-168

Publication Issue :
March-April-2021

Article History
Accepted : 01 April 2021
Published : 10 April 2021

शोध सार–संस्कृत की दूसरी परम्परा की चर्चा डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी व डॉ¬. नामवर सिंह प्रभृति विद्वानों ने की है। संस्कृत कवि–विचारक डॉ. राजदेव मिश्र संस्कृत कविता की दूसरी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले महत्वपूर्ण कवि हैं। अवध क्षेत्र में रहकर अर्जित किये गये वैचारिक संस्कारों से अपनी कविता को संवेदना के धरातल पर वह एक नया स्वर प्रदान करते हैं। अपनी कविताओं में कई बार वह समकालीन हिन्दी कविता की वैचारिकी के साथ खड़े होते हुए दिखाई देते हैं तो कई बार उसे आगे भी ले जाते हैं। अवध की जातीय चेतना का रंग उनकी कविताओं में खुलकर व्यक्त होता है।

बीज–शब्द–जातीय चेतना, आधुनिकता, हिंसा, स्वाधीनता, मार्क्सवाद, राष्ट्रीयता, व्यक्तिवाद और महाप्राणत्व।

आधुनिक संस्कृत काव्य–परम्परा में डॉ.राजदेव मिश्र का नाम बहुत सम्मान के साथ लिया जाता है। उनका जन्म यद्यपि आजमगढ़ में हुआ था, आजीविका के सन्दर्भ में उनका पूरा जीवन फैजाबाद– अयोध्या की कर्मभूमि में व्यतीत हुआ। संस्कृत और हिन्दी भाषाओं के उद्भट विद्वान डॉ. मिश्र ने दोनों ही भाषाओं के साहित्य में महत्वपूर्ण लेखन किया है। संस्कृत कविता की क्लासिक परम्परा को बनाए रखते हुए वह जिस तरह से सम–सामयिक जीवन को अपनी कविता का विषय बनाते हैं, वह आश्चर्यचकित करता है। यह समकालीनता उन्होंने हिन्दी साहित्य के गहरे परिचय से तो अर्जित किया ही है, इसमें एक बड़ी भूमिका अवध के उस सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन की भी है, जिससे उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क पूरे जीवन बना रहा। वह अपनी कविताओं में जिस संसार की सर्जना करते हैं, वह हमारी आज की राजनैतिक व्यवस्था से बनी हुई दुनिया से

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

भिन्न नहीं है, जिसकी कुरूपताएँ व विद्रूपताएँ उसके अस्तित्व और नियति के साथ गहरे मार्मिक ढंग से जुड़ी हुई हैं। डॉ. मिश्र संस्कृत की काव्य–संवेदना के विस्तार के कवि हैं। इस विस्तार और उसकी काव्यानुभूति की बुनावट को समझना हो तो उनकी एक कविता को देखा जा सकता है– 'वर्षाकालिकपंकमलिनता/नश्यति नूनं भुवने/दुर्जनचेतसि गूढ़निवासा/ननु तनुते निजराज्यम/विलसति शरदोराज्यम'[1] यह शरत् ऋतु के विलास का चित्रण है जहाँ अब वर्षाऋतु के प्रभाव से विकसित हुए पंक का अस्तित्व समाप्त हो गया है, सृष्टि में एक प्रकार की नवीनता है। यहाँ विशेषता ऋतु के वर्णन में नहीं है बल्कि इस बात में है कि कवि कहता है कि दुर्जन के चित्त का पंकरूपी विकार भी शरत् के प्रभाव से नष्ट हो गया है और अब वहाँ प्रसन्न शरत् का विलास है। अपनी इन कविताओं के माध्यम से ही वह प्रकृति और मनुष्य के बीच एक नए समीकरण की प्रस्तावना करते हैं जो संस्कृत–कविता को आस्वाद के भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।

एक कवि के रूप में उनकी दृष्टि आधुनिक सभ्यता में व्याप्त हिंसा के सर्वग्रासी रूपों पर बार–बार जाकर ठिठक जाती है। आधुनिक सभ्यता के मूल में ही हिंसा का विचार है। प्रौद्योगिकी के विकास, तकनीक व सूचनातंत्र के विस्तार और बाजारवाद ने साम्राज्यवाद की आकांक्षा को न केवल विस्तारित किया है बल्कि उसके स्वरूप को भी बदल दिया है। संस्कृत कविता की परम्परा में विन्यस्त उदात्त नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना का आग्रह किसी नास्टेल्जिया से प्रेरित नहीं है। वह कहते हैं– परपीड़न सदृशं नहि पापं/परसेवाव्रतं समं न पुण्यम/हिंसारूपं पापं हित्वा/मैत्रीभावं किं नो तनुषे?/मानव किं त्वं हिंसां श्रेयसे?''[2] दरअसल, आधुनिक सभ्यता के इस कालखण्ड में हिंसा को हमने एक आभूषण की तरह धारण कर लिया है और साथ ही हिंसा को तर्कसंगत बनाने के लिए एक वैचारिकी भी विकसित कर ली है। हिंसा के पुराने रूपों से आज की हिंसा का यह स्वरूप भिन्न है। इससे प्रभावित और संचालित होते हुए मनुष्य के पास इससे बाहर जाने की क्या दृष्टि हो सकती है? एक विचारक के रूप में डॉ. मिश्र इन स्थितियों से बाहर निकलने के लिए कोई नया मौलिक मार्ग प्रस्तावित नहीं करते वरन् वह हमारी भाषा और साहित्य की चली आ रही परम्परा के मूल तत्वों की पुनःस्थापना का उद्यम करते हैं। विलुप्त होती हमारी मूलवर्ती चेतना की पहचान हमारी आज की समकालीन चेतना को संघटित करने के लिए कितनी अपरिहार्य हो सकती है, यह उनके गंभीर लेखों व कविताओं से ही जाना जा सकता है। विषय कोई भी हो, आधुनिक मनुष्य के जीवन का संकट और उसकी संवेदना उनकी कविता में मूर्त हो उठती है। उनकी कविताओं की यह एक केन्द्रीय पहचान है, जिससे उनकी काव्यात्मकता गतिशील होती है।

हिन्दी साहित्य लेखन में स्वाधीनता के बाद के मोहभंग की स्थिति का, साहित्य के अनेक विधारूपों, विशेषकर कविता में मार्मिक उल्लेख हुआ है। स्वाधीनता की प्राप्ति के एक दशक बाद ही मोहभंग का यह स्वर साहित्य में आना प्रारम्भ हो जाता है। बाद के दशकों में यह स्वर उत्तरोत्तर और भी विकसित हुआ है। समकालीन संस्कृ

ति कविता ने भी जीवन की विसंगतियों और अन्याय के बोध को अपनी कविता का विषय बनाया है। अपनी प्रश्नवाचकता और तीखेपन से संस्कृत कविता अनेक बार पाठक को चकित कर देती है। डॉ. राजदेव मिश्र की कविताएँ भी उस सामान्यीकरण का विरोध करती हैं जिसमें संस्कृत कविता की विषयवस्तु को कुछ विषयों व प्रसंगों के वर्णन तक सीमित कर दिया गया है। अपने काव्यग्रंथ 'काव्यकौतुकम्' में वह स्वाधीनता के बाद की स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए प्रश्न पूछते हैं कि– 'पराधीनतासमये सर्वे नितरां खिन्ना जाताः/स्वातन्त्र्ये समवाप्ते नूनं दृष्टा जनतोन्नीता/वैरभावना विहरति देशे नश्यति रुचिरं भाग्यं/भारतमाता पृच्छति सर्वं किमिदं स्वीयं राज्यम्/किमिदं स्वीयं राज्यम्?[3] आजादी के बाद स्वाधीनता, भूख, समाजवाद, न्याय और सहभागिता के प्रश्नों को लेकर अनेक कवियों ने कविताएं लिखी हैं। हिन्दी में धूमिल और राजकमल चौधरी ने इन विषयों पर अनेक तीखी और बेधक कविताएँ लिखी हैं। व्यवस्था की आलोचना का एक सशक्त पक्ष इन कविताओं से ही निर्मित होता है। धूमिल अपनी एक कविता में कहते हैं–

वे घर की दीवारों पर नारे
लिख रहे थे
मैंने अपनी दीवारें जेब में रख लीं
उन्होंने मेरी पीठ पर नारा लिख दिया
मैंने अपनी पीठ कुर्सी को दे दी
और अब पेट की बारी थी
मैं खुश था कि मुझे मन्दाग्नि की बीमारी थी
और यह पेट है
मैंने उसे सहलाया
मेरा पेट
समाजवाद की भेंट है
और अपने विरोधियों से कहला भेजा
वे आएँ– और साहस है तो लिखें
मैं तैयार हूँ।[4]

धूमिल की कविताओं में व्यवस्था के प्रति बेधक तीखा सवाल है और स्थितियों का बेलौस खुला निर्भीक वर्णन। इससे हटकर डॉ. मिश्र अपनी कविताओं में केवल प्रश्न भर उपस्थित नहीं करते बल्कि वह समाधान का एक वैकल्पिक मार्ग भी सुझाते हैं। समाधान के मार्ग का अनुसंधान करते हुए कविता में उनका ध्यान प्रगतिशील तत्वों की स्थापना का है, भले ही वैचारिक तौर पर उनकी आस्था मार्क्सवाद या प्रगतिवाद को लेकर न रही

हो। साहित्य की उपादेयता व उसके उद्देश्य को लेकर मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति में काफी प्रभूत काम हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का उद्देश्य ही चेतना के विकास में परिवर्तन के द्वारा सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया को द्रुततर करना है। डॉ. मिश्र ने भारतीय चिन्तन परम्परा की विशेषता और समकालीन वैचारिकता को बहुत सहज ढंग से अपनी कविताओं में समन्वयन के साथ रखकर देखने का प्रयत्न किया है। अपनी एक कविता में वह कहते हैं– ''काव्यत्वं नहि तनुते काव्यं/यस्मन्नहि मानवता/विशदा विमला राजति कामं/भानयितुं समहृदयम/भव्य कल्पना मोघा जाता/किं वा प्रणयसि नव्यम्/कविवर व्यर्थं रचयसि काव्यम्''[5] जब तक कविता में वेदना, पीड़ा विशेषतः मानवीय पीड़ा का आख्यान नहीं होगा तब तक वह अर्थहीन ही रहेगा, भले ही उसमें चमत्कार का दर्शन हो। भव्य कल्पनाएँ और आलंकारिक काव्यत्व की सरणियाँ व्यर्थ हो जाती हैं यदि वह काव्य मनुष्य की सच्ची पीड़ा को व्यक्त कर पाने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान से देखें तो यह संस्कृत कविता का नया काव्यशास्त्र है जो सौंदर्य और अलंकरण के प्रतिमानो से हटकर संवेदना को कविता की केन्द्रीय जगह बनाता है। सामाजिक मूल्यों को कविता के संदर्भ में महत्वपूर्ण मानने का बार–बार का आग्रह यह सिद्ध करता है कि यह उनकी कविता में आया कोई सांयोगिक विचार नहीं है बल्कि इसके पीछे उनका एक सुचिन्तित दर्शन व आग्रह है–''काव्ये न चेन्मानवपीड़ा/हृदयहारिका दृश्या/काव्यपाठकं सकत्नं सरसं/नहि शक्ता रोदायितुम/ब्रूहि सखे सम्प्रति निःशंक/काव्ये तव किं श्रव्यम? कविवर! व्यर्थं रचयसि काव्यम्''[6]

परम्परागत काव्य–प्रणालियों से बहुत गहरे परिचित और प्रभावित होने के बावजूद संवेदनागत धरातल पर अभिव्यक्ति की नयी प्रणालियों को महत्व देना उन्हें एक भिन्न दृष्टि का रचनाकार बनाता है। संस्कृत कविता का एक नया स्वरूप गढ़ने में जिन लोगों ने अपनी लेखनी चलाई है, उनमें उनका नाम अन्यतम है। डॉ. मिश्र ने विषयवस्तु के अपरिमित विस्तार से संस्कृत कविता को संवेदना और भाषिक सामर्थ्य दोनों की ही समृद्धि प्रदान की है। व्यक्तिवाद, जातिवाद और वादभावना आदि को लेकर उन्होंने प्रभावपूर्ण कविताएँ की हैं। उनकी एक कविता है–''व्यक्तिवादः कदाचिन्न संवर्धतां/जातिवादो मिथो न परिस्पर्धताम/भावना वादमूला भवेनन्निन्दिता/राष्ट्रिया भावना भारते राजताम/भावना राष्ट्रिया भारते भ्राजताम''[7] कवि उस राष्ट्र धर्म का पक्षधर है जिससे राष्ट्ररक्षा होती हो, जो समग्र लोकसेवा हेतु मंगलसूचक हो, जो सर्वसुख का आधार हो–''येन धर्मेण राष्ट्रस्य रक्षा भवेद्/यश्च लोकं समग्रं हि धर्तुं क्षमः/सौख्यभाजश्च स्युर्येन सर्वे जना/स्तादृशोऽसौ हृदा सेव्यतां भारते/ राष्ट्रधर्मोऽधुनावर्धतां भारते''[8] डॉ. राजदेव मिश्र की इन विषयों पर लिखी गयी कविताएँ यह सिद्ध करती हैं कि मौलिकता विषयवस्तु की समकालीन पुनः प्रस्तुति में भी होती है और यह मनुष्य के सत्य के साथ दृढ़ता से खड़े रहने में भी व्यक्त होती है। जिस संकट को कवि अपनी संवेदना के बल पर समझता व संप्रेषित करता है वह ही संकट कहीं ना कहीं उसकी काव्यात्मकता के विरुद्ध भी खड़ा है, इसे समझने की ज़रूरत है।

आधुनिक राष्ट्रीयता की समस्याओं को चिह्नित करने के क्रम में डॉ. मिश्र ने उन सभी पहलुओं को सामने रखा है, जिसने हमारे जीवन को विकलांग कर रखा है। युद्ध की प्रवृत्ति ने आधुनिक सभ्यता को किस तरह संकटग्रस्त किया है, यह उनके काव्य की सर्वप्रमुख चिन्ताओं में से एक है। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए गाँधी ने उसके दुष्परिणामों को लेकर अनेक बार आलोचना की है। वह इस सभ्यता के गठन का मौलिक आधार ही हिंसा को मानते थे। गाँधी 'हिन्द स्वराज' में कहते हैं कि– ''यह सभ्यता ऐसी है अगर हम धीरज धरकर बैठे रहेंगे, तो सभ्यता की चपेट में आए हुए लोग खुद की जलाई हुई आग में जल मरेंगे। पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है।... यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद नाशवान है।''[9]

आधुनिक साम्राज्यवादी विस्तार की आकांक्षा, नव्यपूंजीवाद और नवउपनिवेशवाद के मूल में हिंसा का बढ़ता जो अनालोचनात्मक विकास है, उसी गाँधी के साथ–साथ अन्य राष्ट्रीय विचारकों ने भी लक्ष्य किया था। डॉ. मिश्र ने हिंसा की बढ़ती इस विस्तारवादी प्रवृति पर बार–बार चोट की है और यह चेताया भी है कि यदि हमने इस पर नियंत्रण पाने में अब देर की तो बहुत देर हो जाएगी–

समस्तः स्वदेशो भृशं पीड्यमान/स्सखेदं गतः सम्प्रतं लक्ष्यमाणः/स्वदेशे जनैर्धुस्यते चैष घोष–/ स्समैर्हन्यतां क्रूर हिंसा पिशाची/समैर्हन्यतां क्रूरहिंसा पिशाची''[10]

हिंसा की तुलना पिशाची से करते हुए वह कहते हैं कि यह अत्यंत क्रूर है क्योंकि इसने हमारे सद्भाव, सौमनस्य और सामाजिकता के मूल पर ही आघात कर दिया है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच उसके सामाजिक, धार्मिक और अस्मितामूलक सम्बन्धों को लेकर गहन संशय है। एक दूसरे के विरोध में खड़ी ये इच्छाएं किसी सामंजस्य के अभाव में किस दिशा की ओर बढ़ेंगी, यह गहन चिन्तन का विषय है। इस दृष्टि से वे भारतीय पारंपरिक मूल्यों और जीवनदृष्टि को समाहार की एक युक्ति के तौर पर देखने की प्रस्तावना भी करते हैं। अहिंसा को लेकर एक स्वरूप जनमत का निर्माण और उसका क्रियान्वयन आज के विश्व की सामयिक आवश्यकता है। इस वातावरण के निर्माण में साहित्य की भूमिका को वह पहचानते हैं, उसकी प्रतिरोध–शक्ति को रेखांकित करते हैं। अपनी बुनियादी प्रतिरोधक संरचना के कारण सत्ता के द्वारा साहित्य का 'एप्रोप्रिएशन' बेहद मुश्किल है। इस विशेषता को पहचानने और उसका पर्याप्त काव्यात्मक निवेश करने के नाते उनकी कविताएँ संस्कृत काव्य–परम्परा में एक विशिष्ट अर्थबोध का वहन करने में समर्थ हो जाती हैं।

संस्कृत कविता की परम्परा में डॉ. राजदेव मिश्र की कविता को पढ़ते हुए यह देखना एक आश्वस्तिपरक अनुभव है कि कैसे वह अपने समय, समाज और राजनीति की विद्रूपता से बार–बार टकराते हैं। राजनैतिक होना इस टकराहट की पूर्व–शर्त है, जिसका गुरेज आज का साहित्यकार नहीं कर सकता। संस्कृत कविता की अ–राजनीतिक परम्परा को राजनैतिक अर्थ से सहयुक्त करना, उनका संस्कृत परम्परा को अन्यतम योगदान है।

अवध की साहित्य व संस्कृति–परम्परा मूल रूप से लोकधर्मिता की रही है। अवधी के महाप्राणत्व, उसकी लोक–व्यंजना और विराट मनुष्य–चेतना के अंतर्वर्ती तत्वों को धारण करने और उसे संस्कृत कविता के स्वभाव के साथ उसका अंतरंग बना लेने के नाते ये कविताएं हमारे आज के समकालीन अनुभवबोध की उपलब्धि कही जा सकती हैं।

संदर्भः–

1. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यसौरभम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 18
2. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यसौरभम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 71
3. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यकौतुकम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 38
4. धूमिल, संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 65
5. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यसौरभम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 74
6. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यसौरभम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 74
7. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यकौतुकम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 21
8. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यसौरभम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 33
9. महात्मा गांधी हिन्द स्वराज सर्व सेवा संघ प्रकाशन वाराणसी पृष्ठ 36
10. डॉ. राजदेव मिश्र, काव्यकौतुकम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, पृ. 55